SAMBODHI

Indological Research Journal of L.D.I.I.

VOI. XXXIX 2016

EDITOR

JITENDRA B. SHAH

L. D. INSTITUTE OF INDOLOGY
AHMEDABAD

CONTENTS

English Section

1.	VIJÑĀNAMĀTRA AND VIJÑAPTIMĀTRA : A REAPPRAISAL	Yan Cao	1
2.	The Text-Study in Folk-epics of Western India	Hasu Yajnik	14
3.	Traces of Nirgrantha's thought in Buddhist texts	Jitendra B.Shah	29
4.	Pacchakkhāṇa leading to Sallehaṇā	Hampa Nagarajaiah	41
5.	Excerpts quoted in the Nāṭyadarpaṇa from the Devīcandragupta : A Critque on their Significance	Satyavrat Varma	54
6.	A Grammatical Analysis of the Dvyāśraya-Mahākāvya's Śaurasenī Ślokas	Mana Apoorva Shah	62

हिन्दी विभाग

7.	प्राकृत काव्य की चारुता के भाषिक आधार	बलराम शुक्ल	71
8.	हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण में अभिज्ञानशकुन्तलम्	वसन्तकुमार म. भट्ट	90
9.	अथ स्वतः परतः प्रामाण्यं परीक्ष्यते	अम्बिकादत्त शर्मा	98
10.	रत्नपालचरितम् : एक विवेचन	हेमवती नन्दन शर्मा	113
11.	महोपाध्याय क्षमाकल्याण जी रचित साहित्य	मणिगुरु चरणराज आर्य मेहुलप्रभसागर	120
12.	वेदों में वर्णित राष्ट्रीय भावना	महेन्द्रकुमार अं. दवे	125

ગુજરાતી વિભાગ

13.	અનુયોગદ્વાર સૂત્રના રચનાકાળ વિશે કાંઈક	સાધ્વીશ્રી મૃગાવતીશ્રીજી મ.	129
14.	ન્યાય દર્શન – એક પરિચય	લક્ષ્મેશ જોષી	132
15.	મધ્યકાલીન સાહિત્યનો અમૂલ્ય ખજાનો	અભય દોશી	138
16.	આચાર્ય જયવંતસૂરિકૃત શૃંગારમંજરી : એક અનન્ય સંપાદન	અભય દોશી	152
17.	હસ્તપ્રતો : ભારતીય ઈતિહાસ અને સંસ્કૃતિનો અમૂલ્ય સ્રોત	ભારતી શેલત	161

❋ ❋ ❋

प्राकृत काव्य की चारुता के भाषिक आधार

बलराम शुक्ल

जयउ सरस्सइ बुहजणवन्दिअअरपाअसेट्ठकंदोट्ठा ।
पाउअ विअ महुरमुही सक्कअ विअ रूढमाहप्पा ॥[1]

जिस साहित्यिक प्राकृत की चर्चा इस पत्र का विषय है, भाषाविदों ने उसके वाग्व्यवहार का समय पहली शताब्दी ईस्वी से लेकर पाँचवीं शताब्दी माना है। यह काल संस्कृत कविता शैली के पूर्णतः विकसित हो जाने के बाद का है[2]। संस्कृत में काव्योचित संवेदना तथा भाषा का विकास वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो गया था। महाकाव्य काल से होते हुए शताब्दियों तक इसे पूर्णता प्राप्त होती रही। संस्कृत के समान्तर, प्राकृत भाषा क्षेत्रीय भाषाओं के रूप में प्रारम्भ से ही प्रचलित तो थी लेकिन इनका साहित्यिक प्रयोग बहुत बाद में देखा गया। प्राकृत का साहित्यिक स्वरूप, चूँकि संस्कृत कविता के बाद आया इस कारण प्राकृत काव्य में वे सारी विशिष्टतायें प्रायः आ गयी जिन्हें अनेक युगों के विकास के परिणामस्वरूप संस्कृत कविता ने प्राप्त किया था। प्राकृत कविता को संस्कृत काव्य परम्परा से काव्योचित अभिव्यक्तियाँ, मुहावरे, उपमान-विधान, काव्य, रूढियाँ, छन्दोवैचित्र्य तथा अन्यान्य आलंकारिक उपादान रिक्थ के रूप में प्राप्त हुए। महाकाव्य, गीतिकाव्य, गद्यकाव्य, नाटक, कथासाहित्य आदि विधागत विशिष्टतायें भी संस्कृत की ही भाँति प्राकृत में भी प्रचलित हुई। बाद में प्राकृत ने भी अनेक स्तरों पर संस्कृत की परम्परा को समृद्ध किया।

प्राकृत कविता संस्कृत की प्रायः सभी काव्यात्मक विशेषताओं से संवलित है, लेकिन इसके साथ ही प्राकृत कविता की अपनी अनेक मौलिक विशेषतायें भी हैं जिन्हें हम संस्कृत में नहीं पाते। प्राकृत कविता में अनेकानेक ऐसे चमत्कार प्राप्त होते हैं जो संस्कृत कविता की अपेक्षा विशिष्ट हैं। प्राकृत के कवितागत सामर्थ्य को रसिक समाज ने पहचान लिया था, और इसका संकेत हमें यत्र-तत्र मिलता भी है। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत की कविता को रमणीयतर मानते हुए प्राकृत का कवि कहता है – **सन्ते पाउअ कव्वे को सक्कइ सक्कअं पढिउं**[3] ? प्राकृत में काव्यगत सम्भावनाओं के इन नयेपन की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए **वाक्पतिराज** ने अपने **गउडवहो** में कहा है –

णवमत्थदंसणं संनिवेससिसिराओ बन्धरिद्धीओ ।
अविरलमिणमो आभुवणबन्धमिह णवर पअअम्मि[4] ॥

(प्राकृत में नवीनकाव्यार्थ दिखायी पड़ते हैं । इसके काव्यबन्धों की समृद्धि सन्निवेश के वैशिष्ट्य के कारण मधुर है । मानो, इसमें सम्पूर्ण भुवन ही समाहित हो रहा है । ये विशेषताएँ केवल प्राकृत काव्य की ही हैं ।)

संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत कविता में काव्यार्थ की यह नवीन सम्भावना उसकी अपनी भाषागत विशिष्टताओं के कारण प्रकट हो पायी है । प्राकृत में सामान्य रूप से संस्कृत कविता में प्रयुक्त काव्य विच्छित्तियों तथा कविसमयों का ही प्रयोग मिलता है । दोनों भाषाएँ संरचना तथा काव्यार्थ की दृष्टि से इतनी निकट हैं कि सामान्यतः विद्वद्वर्ग में प्राकृत कविता का अध्ययन संस्कृत की छाया से हुआ करता है तथा अधिकतर प्राकृत कविताओं को संस्कृतानुवाद-सहिष्णु माना जाता है । अर्थात् ऐसा माना जाता है कि काव्यार्थ को गँवाये बिना उन्हें संस्कृत में परिवर्तित करके समझा जा सकता है । इन भाषाओं में परस्पर अनुवाद की आवश्यकता भी नहीं होती । इसी कारण इनके मध्यगत हुए भाषान्तरण को अनुवाद न कहकर छाया कहते हैं । इन सारी निकटताओं के बावजूद भी, प्राकृत कविताओं की सभी काव्य विच्छित्तियों को संस्कृत की छाया मात्र से मूल्यांकित किया जा सकता हो, ऐसा नहीं है । प्राकृत साहित्य के अध्ययन के क्रम में हमें ऐसी अनेक स्थितियाँ प्रायः दिखायी पड़ जाती हैं जहाँ संस्कृत अनुवाद, प्राकृत काव्य के अर्थ के प्रकाशन में पूरी तरह से क्षम नहीं होता । ये स्थितियाँ वहाँ होती हैं जहाँ प्राकृत कविता की क्षमता अपनी भाषिक विशेषताओं के कारण संस्कृत के भाषिक ढाँचे को अतिक्रान्त कर जाती है। प्रस्तुत चर्चा में इन्हीं काव्यात्मक स्थितियों का दिङ्मात्र निदर्शन किया जा रहा है ।

उपर्युक्त स्थितियाँ सामान्यतया दो प्रकार की हो सकती हैं । **पहली स्थिति** वह है जब प्राकृत कविता में संस्कृत से आगत तद्भव शब्दों का प्रयोग न करके देशज शब्दों का प्रयोग किया गया हो । देशज शब्द संस्कृत मूलक नहीं होते अतः उनकी छाया नहीं की जा सकती । उनका अनुवाद संस्कृत के समानार्थी शब्दों को खोज कर करना होता है । उदाहरण के लिये **गाथासप्तशती** की यह प्रसिद्ध गाथा – **एत्थ णिमज्जइ अत्ता**[5] इत्यादि संस्कृत अनुवाद में अत्ता के स्थान पर श्वश्रू का प्रयोग किया गया है ।

दूसरी स्थिति काव्य की दृष्टि से पहली स्थिति की अपेक्षा और महत्त्वपूर्ण है । संस्कृत तथा प्राकृत यद्यपि समान्तर भाषायें हैं तथापि दोनों की भाषिक मर्यादा में कुछ भेद अवश्य हैं । उन भेदों के कारण प्राकृत कविता को अनेकशः नये काव्यात्मक चमत्कारों का लाभ मिल जाता है । प्राकृत की अलंकृत कविता शैली का काल संस्कृत की कविता के बाद का है । ऐसा देखा जाता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से बाद की साहित्यिक भाषाएँ ध्वनि तथा अर्थ के स्तरों पर परिवर्तन का अनुभव करते हुए रूपान्तरित होती हैं, तो अनेक बार उनमें चमत्कार की सम्भावना कई गुना बढ़ जाती है । पुराने पड़ते शब्द, लोक से लुप्त होने के बावजूद, अत्यन्त प्रचलित तथा प्रयुक्त होने के कारण, काव्य की स्मृति में अक्षुण्ण रहते

हैं । काव्य की स्मृति लोक की स्मृति की अपेक्षा अधिक बलवती होती है । पुराने शब्द तथा उनके अर्थ, नए शब्दों तथा उनके अर्थों के साथ रखे जा सकने के कारण अनेक बार काव्य को अभूतपूर्व अर्थ प्रदानक हैं । पूर्ववर्ती भाषा में यह चमत्कार उत्पन्न नहीं किया जा सकता है । ब्रजभाषा के कवि **बिहारी** के एक दोहे से हम इस बात को और स्पष्टता दे सकते हैं– **नाक बास बेसरि लह्यो बसि मुकुतनु के संग।** इस दोहे में नाक शब्द अपने पुराने स्वर्ग के अर्थ में भी है तथा नये नासिका अर्थ में भी । यह सही है कि बिहारी के काल (1595-1664 ई॰) में नाक शब्द स्वर्ग के अर्थ में कतई प्रयुक्त नहीं होता रहा होगा, लेकिन कविता में उन्हें इस शब्द के पुराने अर्थ के प्रयोग की स्वीकृति मिल गयी है । स्पष्ट है कि पुरातन तथा नवीन अर्थ का यही संयोग इस कविता में विद्यमान श्लेष के चमत्कार का कारण है।

साहित्य की यह ऐतिहासिक परिघटना सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक है । भारतीय साहित्य में हम इसे और स्पष्ट रूप में देख सकते हैं क्योंकि यहाँ भाषिक तथा साहित्यक विकास के विभिन्न कालखण्ड सौभाग्यवश सुरक्षित हैं । भारतीय भाषा परम्परा की अविच्छिन्नता तथा परिपूर्णता इसके साहित्य की समृद्धि का एक बड़ा कारण है । एक और उदाहरण **तुलसीदास** के **रामचरितमानस** से हैं । ग्रन्थारम्भ में ही, खल वन्दना के प्रसंग में वे कहते हैं–

बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेहीं । संतत सुरानीक हित जेहीं ॥

कवि दुर्जनों को शक्र(=इन्द्र) के समान इस कारण से कह पाता है कि सुरानीक दोनों के लिए हितकर होता है । यहाँ **सुरानीक** शब्द में सखण्ड श्लेष है । एक बार तो इसका विभाग **सुर+अनीक** (देवसेना) करेंगे जो कि इन्द्र के पक्ष में संगत होगा । दूसरी बाद दुर्जन के पक्ष में **सुरा+नीक** (अच्छी शराब) यह अर्थ लेना होगा । **तुलसीदास** ने जो चमत्कार उत्पन्न किया है वह संस्कृत में सम्भव नहीं है क्योंकि वह केवल संस्कृत पर आधारित नहीं है । वह तो संस्कृत का सारा रिक्थ लेकर समृद्ध हुई बाद की भाषा(=अवधी) में ही सम्भव है[6]। प्राकृत भाषा के जो अपने अभिलक्षण हैं, वे भी इसी प्रकार संस्कृत की परम्परा से जुड़कर कविता को अपूर्व सौन्दर्य प्रदान करते हैं । यही कारण है कि भारतीय भाषा परम्परा में बाद की भाषाओं को कविता के लिए अधिकाधिक समर्थ तथा सम्भावनापूर्ण माना गया है । इस कथ्य के समर्थन में अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं । प्राकृत कवि **स्वयंभू** का कहना है – **देसी भाषा उभय तडुज्जलु** अर्थात् अपभ्रंश भाषा संस्कृत और प्राकृत से भी उज्जवल है । **शाकुन्तलम्** की टीका करते हुए **शंकर** ने लिखा है – **संस्कृतात् प्राकृतं श्रेष्ठं ततोऽपभ्रंशभाषणम्**[7] अर्थात् संस्कृत से श्रेष्ठ प्राकृत है तथा उससे भी उत्तम अपभ्रंश भाषा है । **विद्यापति** का कथन – **देसिल बयना सब सज्ञ मिट्ठा । ते तैसनो जम्पओं अवहट्ठा,** प्रसिद्ध ही है । **12वीं सदी** में वर्तमान संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध मुक्तककार **गोवर्धन** की उक्ति है – **वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता**[8] । (=मुक्तक का समुचित रस तो प्राकृत में विद्यमान है, मैं उसे बलपूर्वक संस्कृत में ले आ रहा हूँ ।)

व्याकरणिक कोटियों तथा ध्वनि संबन्धी वितरण के आधार पर संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत में सरलता तथा सुकुमारता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है[9]। कवियों ने प्राकृत कविता के सौन्दर्य परिवर्धन के लिये इसी प्रकार की भाषिक विशिष्टताओं का विनियोग किया है ।

संस्कृत से प्राकृत भाषाओं में ध्वनि आदि स्तरों पर घटित परिवर्तनों के कारण शब्दराशि में जो रूपान्तरण हुए उसके कारण उनके शब्दों में काव्यगत चारुत्व की सम्भावना बहुत अधिक बढ़ गयी। यह चमत्कार शब्द के स्तर पर, अर्थालंकार के स्तर पर तथा ध्वनि आदि अनेक स्तरों पर दृष्टिगोचर होता है। ध्वनि परिवर्तनों के बाद अनेक शब्दों के रूप प्राकृत में एक समान हो गये जिसके कारण वे शब्द श्लिष्ट हो गये, फलतः उनके अर्थ प्रदान करने का सामर्थ्य भी बढ़ गया। प्राकृत के **गय** का अर्थ केवल **गत** ही नहीं है **गज** भी है। **सत्थर** का अर्थ केवल **स्वस्तर** ही नहीं है, **शास्त्र** भी है। **मिअ** का अर्थ मृत ही नहीं मृग भी हो सकता है। **शाकुन्तलम्** में **अनसूया** के कथन में आया हुआ **वसन्तोदार** शब्द संस्कृत में **वसन्तावतार** तथा **वसन्तोदार** दोनों तरह से देखा जा सकता है[10]। भाषिक परिवर्तनों से प्राप्त काव्य सौन्दर्य की इस गुणात्मक अभिवृद्धि पर प्राकृत का विशेषाधिकार है। ऐसे प्रसंगों में संस्कृत की छाया अथवा अनुवादों को देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि संस्कृत में ये प्रसंग यथावस्थ अनुदित नहीं किये जा सकते। इस तथ्य को निम्नोक्त उदाहरण से सिद्ध किया जा सकता है –

परिहूएण वि दिअहं घरघरभमिरेण अण्णकज्जम्मि ।
चिरजीविएण इमिणा खविअम्हो दड्ढकायेण ॥[11]

उपर्युक्त गाथा में प्रयुक्त **अण्णकज्जम्मि** तथा **दड्ढकायेण** ये दोनों शब्द प्राकृत की भाषिक विशिष्टता के कारण दो-दो अर्थों को दे सकते हैं – **अन्यकार्ये** तथा **अन्नकार्ये** और **दग्धकायेन** तथा **दग्धकाकेन**। जबकि संस्कृत छाया से हम किसी एक अर्थ को ही पा सकते हैं। इसकी संस्कृत छाया निम्नोक्त प्रकार से की जा सकती है –

परिभूतेनापि दिवसं गृहगृहभ्रमणशीलेनान्यकार्ये ।
चिरजीवितेनानेन क्षपिताः स्मो दग्धकायेन ॥[12]

इस गाथा के संस्कृत अनुवाद में कविसम्मत अर्थ नहीं आ पाया है और उसे स्पष्ट करने के लिये अनुवादक **भट्ट मथुरानाथ शास्त्री** को अन्य अभीष्ट शब्दों को कोष्ठक में रखना पड़ा है –

परिभूतेनापि दिनं गृहं गृहं भ्रामिणान्यकार्येण (अन्यकार्येण) ।
चिरजीवितेन सपदि क्षपिताः स्मोऽनेन दग्धकायेन (–काकेन) ॥[13]

प्रस्तुत गाथा किसी अनुताप ग्रस्त वृद्ध का कथन है। कथन के वक्तृवैशिष्ट्य के कारण उपर्युक्त शब्दों के अर्थ अन्यकार्य तथा दग्धकाय मात्र में नियन्त्रित हो जायें, लेकिन पुनः शब्द विशेष के प्रयोग के कारण काक सम्बन्धी अर्थ भी व्यंजित हो जायेगा। इसके बाद वाच्य वाक्य तथा व्यंग्य वाक्य में उपमानोपमेय भाव होकर उपमा अलंकार ध्वनि व्यंजित होगी। इस क्रम से प्राप्त संलक्ष्यक्रम ध्वनि शब्दशक्ति से उत्पन्न मानी जायेगी। स्पष्ट है कि शब्दों के प्रयोग की यह विशिष्टता केवल प्राकृत काव्य में ही है। संस्कृत छाया अथवा अनुवाद में तो दोनों अर्थों का कण्ठतः कथन करना होगा। इस कारण दोनों के दोनों अर्थ वाच्य हो जायेंगे फलतः उनसे अभिहित होने वाली उपमा वाच्य ही होगी व्यंग्य नहीं। इस प्रकार उत्तम ध्वनिकाव्य का उदाहरण प्राकृतगाथा ही बन पायेगी संस्कृतानुवाद नहीं।

एक अन्य उदाहरण पर ध्यान देते हैं –

रयणुज्जल-पयसोहं तं कव्वं जं तवेइ पडिवक्खं ।
पुरिसायंतविलासिणिरसणादामं विअ रसंतं ॥ (वज्जालग्गं 3.2)

इस गाथा में चार पदों में श्लेष है । **रयणुज्जल** का अर्थ–**रचनोज्जल** तथा **रत्नोज्ज्वल** दोनों है। **पडिवक्खं** से **प्रतिपक्षं** तथा **पतिवक्षः** दोनों अर्थ लिए जा सकते हैं । **रसंतं** का अर्थ **रसान्तम्** तथा **रसत्** (शब्द करते हुए) दोनों है । इनमें से तीन श्लेष केवल प्राकृत भाषा में ही सम्भव हैं । केवल पद शब्द अनेकार्थक होने से संस्कृत तथा प्राकृत दोनों में समान रूप से प्रयोज्य है ।

आगे हम संस्कृत भाषा की अपेक्षा प्राकृत भाषाओं में दृष्टिगत प्रमुख ध्वनि परिवर्तनों के काव्यात्मक उपयोगों पर चर्चा करेंगे । इन ध्वनि परिवर्तनों से प्राप्त, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों स्तरों पर चारुत्व का आधान करने वाली, भाषिक विशेषताओं का महत्त्व की दृष्टि से क्रमशः वर्णन किया जा रहा है–

(क) मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का लोप –

प्राकृतों में (विशेषतः महाराष्ट्री प्राकृत में, जो कि पद्य के लिये उपयुक्ततम तथा प्रयुक्ततम भाषा मानी गयी है[14]) असंयुक्त अवस्था में विद्यमान तथा शब्द के आदि में न आने वाले[15] अल्पप्राण व्यञ्जनों – क,ग,च,ज,त,द,प तथा यकार-वकार का प्रायः लोप हो जाता है[16]। इन लुप्त ध्वनियों के पहले और बाद में भी यदि अकार हो तो वहाँ यश्रुति अर्थात् य जैसी ध्वनि का आगम हो जाता है[17]। कुछ विद्वानों का मत है कि महाराष्ट्री को काव्य की दृष्टि से मधुर बनाने के लिये उसे प्रयास पूर्वक मध्यगत अल्पप्राण वर्णों से रहित बनाया गया था[18] । परन्तु यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है क्योंकि अगर काव्य में प्रयोग करने मात्र के लिये इन शब्दों की उपर्युक्त ध्वनियों का लोप किया गया होता तो उसी दिशा में परिवर्तित रूप, जो अब भी हमारी भाषाओं में मिलते हैं, वे नहीं मिलते[19]। वे काव्य तक ही सीमित होकर रह गये होते। यह बात अवश्य ठीक है कि इन व्यञ्जनों के लोप के कारण प्राकृत अत्यन्त मधुर हो गयी है तथा उसके बन्ध सुकुमार हो गये हैं । वस्तुतः उपर्युक्त प्रकार के परिवर्तन भारतीय आर्यभाषाओं के स्वाभाविक रूपान्तर के फलस्वरूप सामने आये हैं जो मुखसुख तथा अन्य ध्वनि परिवर्तन के कारणों से प्रेरित हैं[20]। इस प्रवृत्ति के कारण काव्यविच्छित्तियों के निम्नोक्त प्रकार प्राकृत कविता में दिखाई पड़ते हैं –

1. अनुप्रास – प्राकृत शब्दों में प्रयुक्त अधिकतर अल्पप्राण व्यंजन विजातीय होते हैं । इन वैरूप्य सम्पादक व्यञ्जनों का लोप हो जाने के बाद तथा कई बार उन लुप्त स्वरों के स्थान पर य–श्रुति या व–श्रुति हो जाने पर स्वर-व्यंजनों की समानता दिखायी पड़ने लगती है जिससे स्वभावतः अनुप्रास अलंकार की सृष्टि हो जाती है । यथा,

अमअमअ गअणसेहर रअणीमुहतिलअ चंद दे छिवसु (गा०स०1.16)

– अथवा –

अमयमयगयणसेहर रयणीमुहतिलय चंद दे छिवसु

2. **श्लेष** – उपर्युक्त ध्वनि परिवर्तनों के कारण विभिन्न ध्वनियों से घटित शब्दों का रूप एक जैसा हो जाता है। इसके कारण वे समान स्वरूप होकर भी अनेक अर्थ दे पाते हैं। इस परिस्थिति के परिणाम स्वरूप श्लेष तथा श्लेष से उत्थापित उपमा आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग प्राकृत कविता में हो पाता है। श्लेषोत्थापित समुच्चय अलंकार का एक उदाहरण देखें –

अहिणअपओअरसिएसु पहिअ-सामाइएसु दिअहेसु ।
सोहइ पसरिअगीआण णच्चिअं मोरवुंदाणं ॥ (गा०स० 6.59)

इस गाथा में **पओअ** से पयोद और प्रयोग, **सामाइएसु** से श्यामायितेषु और सामाजिकेषु तथा **गीआण** से ग्रीवाणां और गीतानां दोनों अर्थ लिए जा सकते हैं।

श्लेषोत्थापित उपमा का एक उदाहरण देखें –

सच्छन्दिया सरूवा सालंकारा य सरस-उल्लावा ।
वरकामिणि व्व गाहा गाहिज्जन्ती रसं देइ ॥ (व०ल० 2.4)[21]

इस गाथा में गाथा की तुलना श्रेष्ठ कामिनी के साथ की गयी है। दोनों स्वच्छन्द, सुरूप, सालंकार तथा सूक्तियों वाली हैं। यहाँ तक तो संस्कृत तथा प्राकृत दोनों समानार्थक हैं लेकिन **गाहिज्जन्ती** का श्लेष शब्द प्राकृत की अपनी विशेषता है। **गाथा गीयमाना** (= गायी जाती) होकर उसी प्रकार रस प्रदान करती है जैसे कामिनी गाह्यमाना (=भोग किये जाने पर)।

श्लेष कई बार रूपक अलंकार को भी सम्भव बनाता है –

न सहइ अब्भत्थणियं असइ गयाणं पि पिट्ठिमंसाइं ।
दट्ठूण भासुरमुहं खलसीहं को न बीहेइ ॥ (व०ल० 5.12)

प्रस्तुत गाथा में खल तथा सिंह का अभेद सिद्ध किया गया है। यह तभी सम्भव हो पाता है जब **गयाणं गतानां** और **गजानां** इन दोनों अर्थों को दे सके। सिंह जिस प्रकार हाथियों की पीठ के मांस को खाता है उसी प्रकार दुष्ट पुरुष परोक्ष में लोगों की निन्दा करता रहता है।

श्वेताम्बर जैन साधु **जयवल्लभ** का **वज्जालग्ग** नामक सूक्तिकोश श्लेष के इस प्रकार के काव्यात्मक प्रयोगों के लिए बहुत प्रसिद्ध है[22]।

3. **श्लेषोत्थापित अर्थान्तरन्यास** –

जह जह वड्ढेइ ससी तह तह ओ पेच्छ घेप्पइ मएण ।
वयणिज्जवज्जिआओ कस्स वि जइ हुंति रिद्धीओ ॥ (व०ल०265, 29.2)

(जैसे जैसे चन्द्रमा बढ़ता है वैसे वैसे, देखो, वह मृग (मद) से युक्त हो जाता है। काश, किसी की भी सम्पत्ति निन्दा से रहित होती !)

इस उदाहरण में चन्द्रमा का निन्दित होना तभी उपपन्न होगा जब उसे मद युक्त बताया जायेगा। लेकिन चन्द्रमा तो मद से युक्त नहीं होता, वह तो मृग से युक्त होता है। इसे सम्भव बनाने लिए प्राकृत कवि ने **मअ** शब्द का उपयोग किया है जो मृग के साथ-साथ मद का भी वाचक है। इसी प्रयोग विशेष के कारण अर्थान्तरन्यास अलंकार यहाँ सम्भव हो पाया है।

4. **यमक** – मध्यवर्ती व्यञ्जनों के लोप से कई बार भिन्न शब्दों का स्वरूप एक जैसा हो जाता है जिससे यमक अलंकार की सृष्टि होती है। यमक स्वयं तो एक शब्दालंकार है[23], लेकिन यह काव्य में असंगति, विरोध आदि अन्यान्य अर्थालंकारों का भी आधार बन जाता है। गाथासप्तशती की अधोलिखित प्रसिद्ध गाथा का उदाहरण इसके लिए दिया जा सकता है –

मुहमारुएण तं कण्ह गोरअं राहिआएँ अवणेंतो।
एताणँ वल्लवीणं अण्णाणँ वि गोरअं हरसि॥ (गा०स० 1.89)

(हे कृष्ण, तुम अपने मुँह की फूँक से राधिका के गोरज को हटाते हुए दूसरी गोपियों के गौरव का भी हरण कर रहे हो।)

उपर्युक्त पद्य में पहले **गोरअं** का अर्थ गोरजः (= गायों के चलने से उठी धूल) है जबकि दूसरे **गोरअं** का अर्थ है गौरव। प्राकृत भाषा के विशिष्ट ध्वनि परिवर्तनों के फलस्वरूप इन दोनों शब्दों का स्वरूप समान हो गया है, फलतः यहाँ यमक की परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। यमक के बल से यहाँ असंगति अलंकार की सृष्टि हो गयी है। कार्य तथा कारण अगर अलग-अलग स्थानों पर वर्णित किये जायें तो वहाँ असंगति अलंकार होता है[24]।

विंझो न होइ अगओ गएहिँ बहुएहिँ वि गएहिँ॥ (व०ल० 188, 19.3)

(विन्ध्य पर्वत भी बहुत सारे हाथियों के चले जाने से हाथी रहित नहीं हो जाता।) इस उदाहरण में पहले **गएहि** का अर्थ है **गजैः** तथा दूसरे **गएहि** का अर्थ है **गतैः**। ज तथा त दोनों के लुप्त हो जाने के कारण[25] दोनों शब्दों का स्वरूप समान हो गया है तथा यमक की परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है।

सुकइवयणऽण्णवाओ विचित्तरयणाणि सुत्तिरयणाणि (गाथारत्नकोश 2)

(सुकवियों के वचन के समुद्र से विचित्र बनावट वाले सूक्ति रत्नों को –) इस उदाहरण में पहला रयण शब्द रचना का वाचक है जबकि दूसरा रत्न का वाचक है। च तथा त के लुप्त होने तथा त् के बाद स्वरभक्ति हो जाने से दोनों का रूप समान हो गया है।

जमस्स दण्डस्स सगब्भिआ मे गआ गआ जस्स सिरं कराला (उसाणिरुद्धं 1.69)

(यम दण्ड की तरह मेरी कराल गदा जिस के सिर पर चली) इस उदाहरण में पहले गआ का अर्थ गदा है तथा दूसरे गआ का अर्थ गता है। त तथा द के लोप के कारण यह परिस्थिति उत्पन्न हुई है।

5. सौकुमार्य तथा माधुर्य – उच्चारण में दुष्कर अल्पप्राण वर्णों के लोप हो जाने के कारण कविता से श्रुति कटुत्व दोष जाता रहता है। प्राकृत कविता के लालित्य के कारकों में से यह अन्यतम है। इसी कारण प्राकृत काव्य के बन्ध सुकुमार हो जाते हैं। इस आधार पर पाश्चात्त्य विद्वानों ने प्राकृत को कविता हेतु बनायी गयी कृत्रिम भाषा के रूप में शङ्का करते हैं। यद्यपि इस धारणा का अनेक प्रमाणों से खण्डन किया जा सकता है। प्राकृत कवियों ने प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत के श्रुतिकटुत्व की अनेकशः आलोचना की है[26]। **सरस्वतीकण्ठाभरण** में उदाहृत **राजशेखर** की एक प्राकृत शिखरिणी प्रस्तुत है –

परं जोण्हा उण्हा गरलसरिसो चंदणरसो खदक्खारो हारो मलअपवणा देहतवणा ।
मुणाली बाणाली जलइ अ जलद्दा तणुलदा वरिड्डा जं दिड्डा कमलवअणा सा सुणअणा ॥

6. शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि – जब कविता में अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग हो लेकिन उनके दूसरे अर्थ प्रसंगवश नियन्त्रित हो जायें तथा-अभिधा से एक ही अर्थ आये, ऐसा होने पर भी अगर दूसरे अर्थ की प्रतीति होने लगे तो उस अन्य अर्थ की प्राप्ति में व्यंजना व्यापार को ही कारण माना जाता है। व्यंजना अपना यह काम शब्दविशेष के प्रयोग के कारण ही कर पाती है। काव्य में ऐसा व्यंग्यार्थ यदि प्रमुखता से चमत्कार पैदा कर रहा हो तो उस काव्य को शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि काव्य कहते हैं। यह व्यंग्य अर्थ वस्तुरूप और अलंकाररूप दोनों प्रकार का हो सकता है। वस्तुध्वनि का उदाहरण आगे प्रस्तुत है –

जइ सो न एइ गेहं ता दूइ अहोमुही तुमं कीस ।
सो होही मज्झ पिओ तो तुज्झ न खंडए वयणं ॥ (व०ल० 417, 43.5)

(किसी खण्डिता नायिका का, नायक को सन्देश देकर आयी दूती के प्रति उक्ति है – अगर वह=नायक घर नहीं आता तो, हे दूति, तुम अधोमुख क्यों हो ? यदि वह मेरा प्रिय होता तो तुम्हारे वचन का उल्लंघन नहीं करता।) इस उदाहरण में **वयणम्** शब्द के अन्य अर्थ **वदनम्** को **खण्डयेत्** के साथ मिलाकर देखने से चौर्य रत वाली वस्तु व्यंजित होती है। यह शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि **वयण** शब्द विशेष के कारण ही सम्भव हो पाया है।

(ख) संयुक्त विषम व्यञ्जनों का समीकरण –

प्राकृत भाषा की सबसे बड़ी विशेषता, जो उसे संस्कृत की ध्वनि व्यवस्था से भिन्न करती है, वह है उसमें विषम व्यञ्जनों का समीकरण। संस्कृत में ऐसे दो व्यंजन भी एक साथ आ सकते हैं जो भिन्न-भिन्न वर्गों से सम्बन्धित हों (जैसे प्राप्त, युक्त आदि में), अथवा उनमें से एक वर्गीय हो और दूसरा अन्तःस्थ या महाप्राण हो (जैसे योग्य, स्वस्ति आदि)। परन्तु प्राकृत में भिन्न प्रकृति के व्यञ्जनों का संयोग होता ही नहीं। समीकरण की प्रक्रिया द्वारा ये ध्वनियाँ समान हो जाती हैं। प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार विजातीय व्यञ्जनों में से जो निर्बल होता है उसका लोप हो जाता है तथा बचे हुए सबल वर्ण का द्वित्व हो जाता है[28]। व्यञ्जनों के बलाबल का निर्णय करने वाला रेखाचित्र अधोनिर्दिष्ट है –

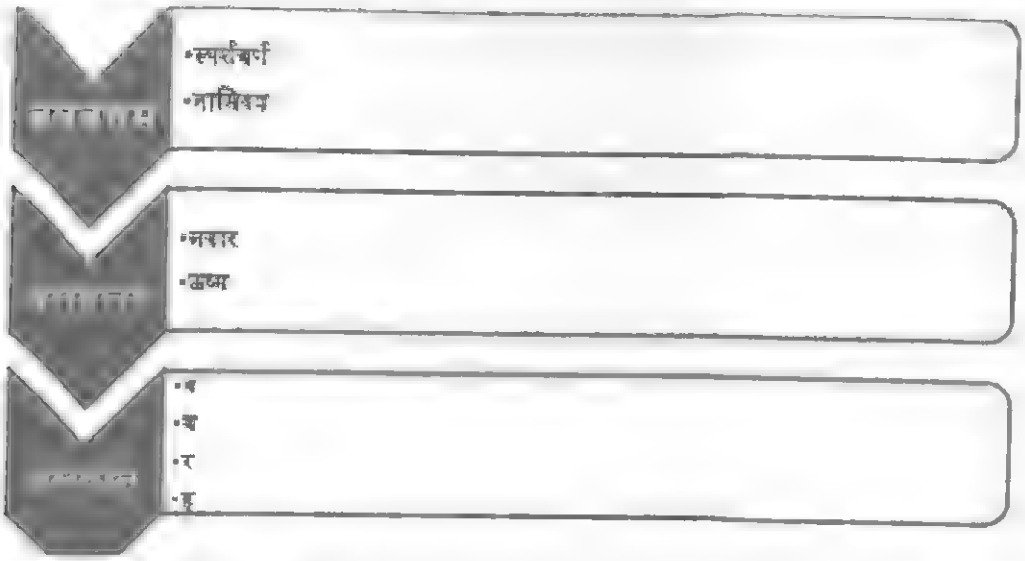

यदि दो समान बल वाले वर्ण एक साथ आ जायें, तो उनमें से पहले वाले वर्ण का लोप तथा बाद वाले वर्ण का द्वित्व हो जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ संयुक्त वर्णों का विशेष ध्वनि परिवर्तन भी होता है, जैसे ज्ञ का ण्ण, त्य का च्च इत्यादि[30]।

इनके कारण उत्थापित काव्य सौन्दर्य के कुछ प्रकार अधोवर्णित हैं–

1. अनुप्रास – संयुक्त वर्णों के समीकरण अनुप्रास की मात्रा को प्राकृत काव्य में संस्कृत की अपेक्षा बढ़ा देते हैं, क्योंकि अनुप्रास समीकृत व्यञ्जनों के प्रयोग से ही उत्थापित होता है। प्राकृत में अनेक संयुक्त व्यञ्जन कई बार एक विशेष संयुक्त व्यंजन समूह में ही परिणत होते हैं, जैसे ज्ञ, र्ण तथा न्न तीनों ही प्राकृत में ण्ण ध्वनि में परिणत होंगे। ऐसी परिस्थितियों में अनुप्रास का प्रकट होना अनिवार्य सा हो जाता है, जैसे–

संते पाउअकव्वे को सक्कइ सक्कअं पढिउं। (व०ल० 3.11)

उपर्युक्त उदाहरण में शक्नोति संस्कृतं प्राकृतगत समीकरण सिद्धान्त के फलस्वरूप सक्कइ सक्कअं हो गया है। इससे अनुप्रास की स्थिति बन पायी है।

2. श्लेष – कई बार विषम संयुक्त वर्णों के समीकरण के फलस्वरूप दो अलग-अलग शब्दों का स्वरूप एक जैसा हो जाता है। इसके कारण श्लेष अलंकार की स्थिति बनती है, जैसे –

किसिओ सि कीस केसव किं न कओ धन्नसंगहो मूढ। (व०ल० 600, 62, 11)

(कृश क्यों हो रहे हो केशव, हे मूढ, क्या तुमने धान्य/सुन्दर रमणी का संग्रह/परिग्रह नहीं किया ?)। उपर्युक्त उदाहरण में धन्न शब्द धान्य तथा धन्या दोनों का वाचक है। क्योंकि दोनों शब्दों में समीकरण के अनन्तर धन्न रूप ही बनता है।

3. **शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि** – शब्दशक्ति से उत्पन्न ध्वनि के प्रसंगों में प्रायः ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं जिनमें श्लिष्टार्थ प्रदान करने की क्षमता होती है। उपर्युक्त प्रकार से हुए समीकरणों के कारण प्राकृत में ऐसे शब्द उद्भूत हो गये हैं जिनका प्रयोग इस प्रकार की ध्वनि को प्राप्त करने के लिए किया जाता रहा है –

पन्थिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे[31] । (व०ल० 494)

(हे पथिक, इस पत्थरों से भरे गाँव में बिछौना/शास्त्र बिलकुल दुर्लभ है)। उपर्युक्त उदाहरण में सत्थर शब्द ध्वनि का प्रयोजक है क्योंकि संस्कृत के शास्त्र तथा स्वस्तर दोनों ही शब्द प्राकृत के विशिष्ट ध्वनि परिवर्तनों के कारण सत्थर के रूप में प्राप्त होते हैं।

4. **अन्त्यानुप्रास** – हिन्दी में जिसे तुक मिलना कहते हैं संस्कृत में उसके लिए शब्द है अन्त्यानुप्रास। प्राकृत में दुर्बल वर्णों के स्थान पर सहवर्ती वर्णों के द्वित्व होने से अनेक बार काव्य में तुकों की निष्पत्ति हो जाया करती है जिससे कविता की संगीतात्मकता में पर्याप्त अभिवृद्धि होती है। यह अन्त्यानुप्रास उसी कविता की संस्कृत छाया वाले रूपों में दिखायी नहीं पड़ती। उदाहरण के लिए–

कौलो धम्मो कस्स णो होइ रम्मो[32] ।

इस उदाहरण में धर्म का रम्य के साथ तुक मिलाया जा सका है तथा काव्य सौन्दर्य में अभिवृद्धि हो सकी है क्योंकि प्राकृत में इनके रूप किंचित् भिन्न होकर समान श्रुति वाले हो गये हैं।

णड्डो चन्दुज्जोओ वासारत्तो हला पत्तो । (शृङ्गारप्रकाश[33])

वर्षारात्रः की जगह **वासारत्तो** तथा **प्राप्तः** की जगह **पत्तो**, इन परिवर्तनों द्वारा उपर्युक्त गाथा में अन्त्यानुप्रास की संगीतात्मक सृष्टि हो पायी है।

5. **माधुर्य** – काव्यशास्त्रियों के प्रेक्षण के अनुसार विषमवर्गीय व्यञ्जनों के समीकृत होकर सवर्गीय संयोग के रूप में प्राप्त हो जाने के कारण माधुर्य गुण निष्पन्न हो जाता है। प्राकृत के एक परवर्ती कवि **रामपाणिवाद** के **कंसवहो** का एक माधुर्य गुण युक्त उदाहरण प्रस्तुत है –

अहेक्कदा चंकमिरो वअंगणे दिणंतगोदोहणवावुडंगणे ।
सहग्गओ सोऽहिसरंतमग्गओ गदग्गओ दक्खइ गंदिणीसुअं ॥ (कंसवहो 1.3)

(ग) मध्यवर्ती वर्गीय महाप्राण व्यञ्जनों का हकारादेश

प्राकृत भाषाओं में ख, घ, थ, ध, तथा भ इन महाप्राण वर्णों के स्थान पर ह का आदेश हो जाता है[34]। वस्तुतः होता यह है कि महाप्राण वर्ण अगर असंयुक्त अवस्था में हों तथा शब्द के आदि में न आयें तो उनके स्पर्श अंश का लोप हो जाता है। स्पर्श अंश का लोप होने पर हकार शेष रहता है। प्राकृत भाषा की इस विशिष्टता के आधार पर प्राकृतकवियों द्वारा निम्नांकित प्रकार के काव्य चारुत्व का लाभ लिया गया है –

1. **यमक** – इस प्रकार के स्थलों में यमक की निष्पत्ति प्रायः हकारघटित शब्दों के साथ होती है । उदाहरण के लिए –

वेवन्तथोरथणहरहरकअकण्ठग्गहं गोरिं । (वक्रोक्तिजीवितम् पृ०79)

(काँपते हुए अल्प भार वाले वक्षस्थलों के साथ शिव के द्वारा गले लगायी गयी गौरी को–) यहाँ भर शब्द परिवर्तित होकर हर हो गया तथा अगले हर के साथ मिलकर इसने यमक की स्थिति उत्पन्न की ।

2. **श्लेष** – श्लेष के कुछ उदाहरण अधोलिखित हैं –

एको च्चिअ दुव्विसहो विरहो मारेइ गयवई भीमो ।
किं पुण गहिअसिलीमुहसमाहवो फग्गुणो पत्तो ॥ (व०ल० 638, 66.9)

उपर्युक्त श्लोक में **विरहो** शब्द **विरहः** तथा **विरथः** दोनों का वाचक है । इसके कारण भीम (भयंकर) विरह तथा विरथ (रथरहित) भीम (मध्यम पाण्डव) दोनों अर्थ सम्भव हो पाये हैं ।

महु महु इत्ति भणंतहो वच्चदि कालो जणस्सु ।
तो वि ण देउ जणद्दउ गोअरिभोदि मणस्सु ॥ (ध्वन्यालोक पृ०544)

इस अपभ्रंश के पद्य में **महु महु** शब्द **मधुमथु** (विष्णु) तथा मैं मैं, दोनों का वाचक है । इस कारण प्रकृत श्लेष का उदाहरण बन जाता है ।

रीदीओ विलिहन्तु कव्वकुसला जोण्हं चओरा विअ । (कर्पूरमंजरी 1.1)

(कविता में कुशल कविगण रीतियों की रचना ऐसे ही करें जैसे चकोर ज्योत्स्ना का लेहन करते हैं ।) उपर्युक्त पद्य का यह अर्थ तभी समर्थित हो पायेगा जब हम विलिहन्तु का श्लेष से दो अर्थों का ग्रहण करें – विलिखन्तु, विलिहन्तु, जो कि प्राकृत में ही सम्भव है ।

3. **श्लेषोत्थापित व्याघात**[35] –

सव्वो छुहिओ सोहइ मढदेउलमन्दिरं च चच्चरअं ।
नरणाह मह कुडुंबं छुहछुहिअं दुब्बलं होइ ॥ (व०ल०161, 16.11)

(सुधालिप्त होने के बाद मठ, मन्दिर तथा चौराहे सारे सुन्दर लगते हैं, हे राजन्, लेकिन मेरा परिवार क्षुधा से क्षुधित होने पर दुर्बल हो गया है ।) इस पद्य में व्याघात अलंकार तभी सृष्ट हो पाता है जब छुहिअ पद के द्वारा दो विरुद्ध कार्यों की निष्पत्ति दिखायी जाये । ध्यातव्य है कि सुधित तथा क्षुधित दोनों शब्द प्राकृत में छुहिअ के रूप में प्राप्त होते हैं ।

4. **श्लेषोत्थापित उपमा** –

निद्धम्मो गुणरहिओ ठाणविमुक्को य लोहसंभूओ ।
विंधइ जणस्स हिययं पिसुणो बाणो व्व लग्गंतो ॥ (व०ल० 53, 5.5)

प्रस्तुत उदाहरण में पिशुन व्यक्ति की तुलना बाण के साथ की गयी है। यह उपमा तभी समर्थित हो पाती है जब अन्यान्य विशेषणों की तरह **लोहसंभूओ** शब्द भी उपमान तथा उपमेय दोनों के साथ संगत हो सके। प्राकृत की विशेषता के कारण इसके दो अर्थ – **लोहसंभूत** तथा **लोभसंभूत** सम्भव हो पाते हैं।

(घ) संयोगपूर्व तथा सानुस्वार दीर्घ स्वर का ह्रस्वीकरण

प्राकृत में दीर्घ वर्ण के बाद यदि संयोग रहे तो उसका ह्रस्व हो जाता है[36]। यह भाषिक परिघटना वस्तुतः लाघव के अनुरोध से होती है। संयोग के बाद यदि ह्रस्व स्वर हो तो वह अपने आप गुरु हो जाता है[37]। अतितरां गुरु की ऐसी प्रवृत्ति संस्कृत में तो है लेकिन प्राकृत में इसका अभाव है। यही स्थिति तब भी होती है जब दीर्घ वर्ण के बाद अनुस्वार होता है। इस प्रवृत्ति से उद्भूत कुछ काव्यात्मक उदाहरण निम्नवत् हैं –

1. **अनुप्रास –**

होसइ किल साहारो साहारे अंगणम्मि वड्ढन्ते।
पत्ते वसन्तमासे वसंतमासाइँ सोसेइ॥ (व०ल० 639, 66.10)

(विरहिणी कहती है – मैंने सोचा था कि वसन्त के आने पर आँगन में बढ़ता हुआ यह आम का पेड़ मुझे सहारा देगा। लेकिन यह तो मेरे वसा-आँतों तथा माँसों को सुखा रहा है।) इस प्रकार का अद्भुत चमत्कारी प्रयोग इस कारण सम्भव हो पाया है कि प्राकृत में **वसान्त्र** शब्द का रूप वसंत हो जाता है।

2. **अर्थापत्ति[38] –**

मासच्छेए जो धाइ सम्मुहो सूरमंडलग्गस्स।
जइ एरिसो ससंको नीसंको केरिसो होइ॥ (गाथारत्नकोश 569)

(मास के समाप्त होने पर जो सूर्यमण्डल के आगे की ओर गति करता है – अथवा – माँस के कट जाने पर भी जो शूर की तलवार के सम्मुख दौड़ पड़ता है; अगर शशांक/सशंक ऐसा है तो निःशंक कैसा होगा।) इस प्रसंग में अर्थापत्ति अलंकार तभी संगत हो पायेगा। जब हम ससंक को शशांक तथा सशंक दोनों अर्थों में गृहीत करें। प्राकृत में सानुस्वार दीर्घ स्वर के ह्रस्व हो जाने के कारण हम यह लाभ ले पाते हैं।

(ङ) प्राकृत में अनेक वर्णों का अभाव –

प्राकृत में संस्कृत की तरह स्वरों तथा व्यंजनों की बहुलता नहीं है। इसमें अनेक वर्ण अनुपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए ऐ, औ, ऋ, अः, श, ष आदि[39]। ये वर्ण प्राकृत भाषाओं में व्यवहृत नहीं होते। प्राकृत कविओं ने इस अभिलक्षण का प्रयोग अनेकत्र अपने काव्य सौन्दर्य को बढ़ाने में किया है –

अनुप्रास का एक उदाहरण निम्नवत् है –

सामा सामण्णपआवइणो रेह च्चिअ ण होइ । (वक्रोक्तिजीवित पृ०57[40])

प्रकृत उदाहरण में स्पष्ट है कि श्यामा शब्द का शकार सकार में परिवर्तित हो गया है जिसके कारण आगे आने वाले सामण्ण शब्द के सकार के साथ मिलकर अनुप्रास की सृष्टि हो रही है ।

(च) प्राकृत कविता में प्रयुक्त देशज शब्द

ऊपर चर्चा आ चुकी है कि प्राकृत में तद्भव तथा तत्सम शब्दों के अतिरिक्त देशज शब्द भी प्रयुक्त होते हैं । देशज शब्दों का मूल हमें संस्कृत में नहीं मिलता । प्राकृत कविता में अनेक बार तत्सम–तद्भव शब्दों के साथ देशज शब्दों के प्रयोग से विशेष प्रकार की ध्वन्यात्मक चारुता आ जाती है । उदाहरण के लिए –

1. अन्त्यानुप्रास (तुक) –

पोढ-सुणओ विअण्णो अत्ता मत्ता पई वि अण्णत्थो । (गा०स० 6.49)

अत्ता सास के लिए प्रयुक्त देशज शब्द है जो मत्ता के साथ मिलकर अन्त्यानुप्रास को प्रयोजित कर रहा है ।

2. अनुप्राससामान्य –

सो च्चिअ दीसइ गोसे सवत्तिणअणेसु संकंतं । (गा० स० 2.6)

गोसे शब्द प्रभात के लिए प्रयुक्त देशी शब्द है ।

जयउ सरसउसइ बुहजणवंदिअअरपाअसेड्ढकंदोट्ठा ।

उपर्युक्त उदाहरण **कन्दोट्ठ** शब्द कमल के लिए प्रयोग में आने वाला देशी शब्द है जो श्रेष्ठ से परिवर्तित तद्भव शब्द **सेट्ठ** के साथ मिलकर अनुप्रास के सौन्दर्य को प्रकट कर रहा है ।

(छ) प्राकृत में अन्तिम व्यञ्जन का लोप –

प्राकृत भाषा में अन्तिम स्वररहित व्यञ्जन का अभाव होता है[41] । उदाहरण के लिए सरित् के स्थान पर प्राकृत में सरि, हरित् के स्थान पर हरि, जगत् के स्थान पर जग तथा छन्दस् के स्थान पर छन्द आदि रूप प्राप्त होते हैं । ऐसी स्थितियों में ये परिवर्तित शब्द व्यञ्जन सहित तथा व्यञ्जन रहित दोनों प्रकार के शब्दों के अर्थ देने लगते हैं । इससे श्लेष की स्थिति बनती है तथा श्लेष और अन्य श्लेषोत्थापित अलंकारों का प्रयोग सम्भव हो पाता है ।

छन्दं अयाणमाणेहिँ जा कीया सा न होइ रमणिज्जा ।
किं गाहा अह सेवा अहवा गाहा वि सेवा वि ॥ (व०ल० 2.10)

(इच्छा/छन्द के बिना जो कुछ किया जाय वह रमणीय नहीं होता है । चाहे गाथा हो अथवा सेवा

हो अथवा गाथा और सेवा दोनों हो ।) संस्कृत के छन्द (इच्छा) तथा छन्दस् (वृत्त या जाति) दोनों शब्द प्राकृत के छन्द के रूप में मिलते हैं । इसी उपर्युक्त श्लेष के कारण इस पद्य में गाथा तथा सेवा दोनों में उपमानोपमेय भाव व्यंजित हो पाया है ।

(ज) प्राकृतगत सुबन्तरूप वैशिष्ट्य –

प्राकृत में अनेक बार सुबन्त शब्दों के रूप संस्कृत की अपेक्षा भिन्न बनते हैं । ऐसा सामान्यतः इसलिए होता है क्योंकि प्राकृत में सुप् प्रत्ययों के आदेश संस्कृत की अपेक्षा अलग होते हैं । ऐसे शब्द अपने बाद में आने वाले पदों के साथ मिलकर अनेक प्रकार के शब्दालंकारों की सृष्टि कर पाते हैं, जो प्राकृत काव्य की अपनी विशेषताएँ कही जा सकती हैं ।

एक उदाहरण वाक्पतिराज के गउडवहो (पद्यसंख्या 6) से प्रस्तुत है –

हरिणो हरिणच्छाअं विलास-परिसंठिअं जअइ ॥

यहाँ हरेः शब्द के लिए प्राकृत भाषा में प्रयुक्त हरिणो शब्द की ही विशेषता है जिसके कारण वह आगे के हरिण (=हिरन) के साथ मिलकर अनुप्रास की छटा बिखेर रहा है ।

(झ) प्राकृत में अनेक व्याकरणिक कोटियों का अभाव–

प्राकृत भाषा में संस्कृत की अनेक व्याकरणिक कोटियाँ लुप्त हो गयी हैं । संस्कृत भाषा में अनेक युगों की भाषिक प्रवृत्तियों का संग्रह दिखायी पड़ता है जिसके कारण संस्कृत बहुस्तरीय और बहुसंरचनात्मक रूप में हमारे सामने प्रकट होती है । भाषाएँ सामान्यतः क्लिष्टता से सरलता की ओर गति करती हैं । इसी कारण प्राकृत में संस्कृत के द्विवचन, आत्मनेपद, चतुर्थी विभक्ति आदि अनेक व्याकरणिक कोटियाँ लुप्त हो गयी हैं अथवा अल्पप्रयुक्त हैं[42]। प्राकृत कवियों ने भाषा की इस विशेषता का उपयोग अनेकशः काव्य सौन्दर्य के परिवर्धन में भी किया है । उदाहरणार्थ –

सा सल्लइ सल्लइ गयवरस्स विंझं मुयन्तस्स ॥ (व०स० 187, 19.2)

(वह सल्लकी का वृक्ष विन्ध्य पर्वत छोड़ते हुए गजेन्द्र को सालता है ।) उपर्युक्त पद्य में शल्यायते (शल्य की तरह लगता है) शब्द आत्मनेपद का त्याग करके प्राकृतगत समीकरण के नियमों का अनुभव करता हुआ सल्लइ रूप को धारण करता है । यह सल्लइ रूप सल्लकी के परिवर्तित सल्लइ रूप के साथ मिलकर यमक अलंकार का उदाहरण बनता है ।

(ञ) वर्णों के वर्णान्तरादेश

संस्कृत की बहुत सी ध्वनियाँ प्राकृत भाषा की अपनी ध्वनि प्रणाली की विशेषताओं के अनुसार अन्यान्य ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती हैं । इसके कारण भी प्राकृत काव्य में विच्छित्ति वैचित्र्य देखा जाता है । कुछ उदाहरण अधोलिखित हैं –

1. श्लेष –

अव्वोच्छिण्णपसरिओ अहिअं उद्धाइ फुरिअसूरच्छाओ ।
उच्छाहो सुभडाणं विसमक्खलिओ महाणईण व सोओ ॥ (सेतुबन्ध 3.17)

उपर्युक्त स्कन्धक में वीरों के उत्साह की तुलना महानदियों के प्रवाह के साथ की गयी है । दोनों **फुरिअसूरच्छाअ** हैं । प्राकृत भाषा की विशेषता है कि वह उन्हें एक साधारण धर्म से जोड़ते हुए भी उनके लिए अलग अलग अर्थ समर्पित करती है – **स्फुरितशूरच्छाय तथा स्फुरितसूर्यच्छाय** ।

2. यमक –

तुइ सण्णिहिदम्मि पेक्खए विविहं णच्चइ णच्चई व सा । (उसाणिरुद्धं 2.66)

नृत्यति नर्तकीव की अपेक्षा णच्चइ णच्चईव में अनुप्रास की छटा का आधिक्य प्रत्यक्ष है ।

कज्जकज्जं पि कअं उअरि भमंतेहिँ भमरेहिं । (शृ० प्र० पृ०452[43])

कज्जलकार्य का कज्जलकज्जं हो जाना उसमें अनुप्रासाधिक्य का अवतार द्योतित करता है ।

उपर्युक्त प्रसंगों की सहायता से हम प्राकृत कविता में मौलिकता के अंश की जाँच भी कर सकते हैं । वे चमत्कार जो अनुवादसहिष्णु हैं वे प्राकृत कविता ने परम्परा से प्राप्त किये हैं जबकि अनुवाद–असहिष्णु चमत्कारों को हमें प्राकृत परम्परा की धरोहर मानना होगा । अन्यथा मुद्राराक्षस की अधोलिखित गाथा –

छग्गुणसंजोअदिढा उवाअपरिवाडिघडिअपासमुही ।
चाणक्कणीइरज्जू रिउसंजमणुज्जआ जयइ[44] ।

को यदि संस्कृत में कर दिया जाये तो भी उसके अर्थ में किसी भी प्रकार की हानि नहीं होगी[45]। केवल नाटक में नीच पात्र के द्वारा इसकी अनिवार्यप्रयुक्तता व्याहत हो जायेगी । ऐसी कविताएँ यद्यपि प्राकृत भाषा में तथा प्राकृतोचित गाथा छन्द में लिखी गयी हैं फिर भी हमें मानना होगा कि ये संस्कृत से अतितरां प्रभावित हैं तथा उतनी स्वाभाविक नहीं हैं जितनी कि उपर्युक्त कविताएँ ।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट है कि प्राकृत कविता की अपनी भाषिक विशेषताओं के कारण उसमें मौलिक काव्य सौन्दर्य की सृष्टि के अनुकूल सामर्थ्य विकसित हुआ है जो संस्कृतानुवादगम्य नहीं है ।

शब्दों की अनेकार्थकता तथा उससे प्रयुक्त काव्यचारुत्व के कारण प्राकृत कविता प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध रही है । लालित्य, मधुराक्षरत्व, शृंगारिकता के अलावा अपनी छेकभणितियों के कारण रसिकों में स्वीकृत प्राकृत काव्य संस्कृत के साथ प्रतिद्वन्द्विता करता हुआ दिखायी पड़ता है । यही कारण है कि संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उत्तम काव्य के उदाहरणों में प्राकृत की कविताएँ उपन्यस्त होती रही

हैं । प्राकृत काव्य के इस प्रकार के चारुत्व में उसकी विशिष्ट ध्वनि प्रणाली तथा अन्य भाषिक विशेषताओं का बड़ा योगदान है ।

पादटीप

1. जयतु सरस्वती बुधजनवन्दिततरश्रेष्ठपादपङ्कजा ।
   प्राकृतमिव मधुरमुखी संस्कृतमिव रूढमाहात्म्या ॥
2. यद्यपि एस० वी० सोहनी आदि कई विद्वान् हाल की गाहासत्तसई को कालिदास से भी प्राचीन मानते हैं तथा हित्वा हालां इत्यादि मेघदूतस्थ श्लोक के हाला पद से हाल की सप्तशती का संकेत मानते हैं । अन्यत्र भी–सूरिदेव (1984) पृ.55.
3. प्राकृतकाव्य के रहते कोई संस्कृत कैसे पढ़ सकता है ? (वज्जालग्गं 3.11)
4. गउडवहो 92.
5. 7.67
6. नीक शब्द फ़ारसी भाषा का प्रतीत होता है, जिसका अर्थ अच्छा या नेक होता है । हिन्दी में प्रचलित नेक शब्द इसी का उच्चारणान्तर है । फ़ारसी में इस शब्द के मुक्तपरिवर्त (Free Variants) हैं – नीकू या निकू ।
7. पिशेल (1958) पृ०२ पर हेमचन्द्र जोशी की टिप्पणी ।
8. आर्यासप्तशती 1.52
9. परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो । पुरिसाणं महिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणं ॥ अर्थात् संस्कृत के रचनाबन्धकठोर तथा प्राकृत के बंध सुकुमार होते हैं । इन दोनों में इतना ही अन्तर है जितना स्त्री और पुरुष (के अवयव बन्ध) में । राजशेखर–कर्पूरमंजरी 1
10. शाकुन्तलम् प्रथम अंक, पृ०१५, पंक्ति 61 । (सं०) गौरीनाथ शास्त्री, साहित्य अकादमी ।
11. गाहासत्तसई 2.34
12. तत्रैव
13. तत्रैव
14. महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः । (काव्यादर्श 1.)
15. स्वरादसंयुक्तस्यानादेः 1.176
16. कगचजतदपयवां प्रायो लुक् हैम० 1.177
17. अवर्णे यश्रुतिः । हैम० 1.180
18. देखिये–पिशेल (1958) पृ०८, पृ०18 आदि ।
19. उदाहरण के लिये शीतकाल के लिये प्राचीन राजस्थानी में सीयाळ तथा उष्णकाल के ऊन्हाळ का प्रयोग । भगिनिपति का बहनोई । रसवती का रसोई । गृहकृत्य का भोजपुरी में घरकच । पाद का पाव या पाँव । चतुष्पाद का भोजपुरी में चौआ । आम्रराजि का अमराई, राजिका का राई । ये परिवर्तन इस बात में स्पष्ट प्रमाण हैं कि उपर्युक्त ध्वनि परिवर्तन कृत्रिम नहीं अपितु स्वाभाविक दिशा में निर्देशित हैं ।

20. यद्यपि भाषा में सादृश्य भी ध्वनि परिवर्तन का प्रेरक कारण होता है, लेकिन यह भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है तथा सादृश्य भाषिक परिवर्तन का एक अकेला कारण नहीं है।

21. एक अन्य उदाहरण –

सालंकाराहिँ सलक्खणाहिँ अन्नन्नरायरसियाहिं।
गाहाहिँ पणयिणीहिँ व खिज्जइ चित्तं अइंतीहिं ॥ (व०ल० 2.2)

(रायरसिय शब्द रागरसिक तथा रागरसित दोनों अर्थों को दे रहा है, जिसके कारण गाथा तथा प्रयसी में उपमा सम्भव हो पा रही है।)

22. वज्जालग्गं (1984), भूमिका–xiii-xxvii

23. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः। यमकम्–II(काव्यप्रकाश 9.83)

24. विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसंगतिः। (कुवलयानन्दः 85)

25. तथा प्राकृत में अकारान्त शब्दों में ऐस् के स्थान पर भिस् प्रत्यय का भी प्रयोग होने के कारण (हैम० 3.7 भिसो हि हिँ हिं)

26. 1. डज्झउ सक्कयकव्वं सक्कयकव्वं च णिम्मियं जेण।
बंसहरम्मि पलित्ते तडयडतट्टतणं कुणइ ॥

2. पाइयकव्वुल्लावे पडिवयणं सक्कएण जो देइ।
सो कुसुमसत्थरं पत्थरेणं दलिउं विणासेइ ॥ (व०ल० परिशिष्ट 31 * 3-4)

27. तं नमह भारइं जीए चरणनहदप्पणेसु सकंता।

बहुवयणा होंति फुडं पणमंता तक्खणे कइणो ॥ (गाथारत्नकोश 18)

28. अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम् 2.89

29. देखिए – हैम० 2.77 से 2.90

30. विशेष विस्तार के लिये देखें हेमचन्द्रकृत प्राकृतव्याकरण–द्वितीय पाद सूत्र।

31. अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्वेति (वस्तुमात्रं) व्यज्यते। काव्यप्रकाश 4.53

32. कर्पूरमंजरी 1.23

33. कुलकर्णी पृ.69

34. खघथधभाम्। हैम० 1.187

35. यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ॥ (काव्यप्रकाश 10.137-138)

36. ह्रस्वः संयोगे। हैम० 1.84

37. संयोगे गुरु। (अष्टाध्यायी 1.4.11)

38. कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते।
स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्ता सरसीरुहाम् ॥ (कुवलयानन्द 120)

39. ऐ-औ- क- प-ऋ-ॠ-ऌ-ॡ-प्लुत-श-षाः सर्गः चतुर्थी भ्यसि
प्रान्ते हल् ङञनाः पृथग्द्विवचनं नाष्टादश प्राकृते। (प्राकृतचन्द्रिका 1.13)

40. कुलकर्णी पृ०18 पर उद्धृत
41. प्रान्ते हल् ङञनाः पृथग्द्विवचनं नाष्टादश प्राकृते । (प्राकृतचन्द्रिका 1.13)
42. सुप्तिङ्लिङ्गनराज्झलादिबहुलं षष्ठी चतुर्थ्याः सदा ।
तादर्थ्योदितङेस्तु वा बहुवचो द्वित्वे प्रयोज्यं सदा ॥ (प्राकृतचन्द्रिका 1.14)
43. कुलकर्णी पृ०81
44. मुद्राराक्षस 6-4
45. ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने मूलतः यह पद्य संस्कृत में ही बनाया होगा । इसकी संस्कृतच्छाया में कहीं भी छन्दोभङ्ग दृष्टिगोचर नहीं होता–षड्गुणसंयोगदृढा उपायपरिपाटिघटितपाशमुखी । चाणक्यनीतिरज्जू रिपुसंयमनोद्यता जयति ॥ तदेव ॥

अन्त्यटिप्पणी

i. प्राकृत वैयाकरणों ने व्याकृति की सुविधा तथा लाघव के लिए संस्कृत को प्राकृत का मूल मान लिया है । उन्होंने संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत के शब्दों को ३ प्रकारों का बताया है – 1. वे शब्द जिनमें प्रकृति तथा प्रत्यय दोनों में विकृति हो वे हैं **तद्भव**, 2. जिनमें केवल प्रत्ययांश में विकृति हो प्रकृत्यंश में नहीं वे हैं **तत्सम** (तत्सम को संस्कृतसम भी कहते हैं, दे० हैम० सर्वत्र लबरामवन्द्रे सूत्र की वृत्ति) तथा 3. जिन शब्दों का प्रयोग क्षेत्र विशेष तक सीमित होने के कारण अप्रसिद्ध हों वे हैं **देशी** । देखिए – प्राकृतचन्द्रिका 1.4-7

प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम् ।
तद्भवं तत्समं देशीत्येवमेव त्रिधा मतम् ॥

प्रकृतिप्रत्ययांशाभ्यां विकृतं तद्भवं यथा ।
गोरीआ देउ सोहग्गं सामिद्धि पाअडं स्मृतम् ॥

यत्केवलं प्रत्ययांशे विकृतं तत्समं यथा- ।
हरिणो चरणे चारु नुमो कमलकोमले ॥

देशी देशविशेषेण प्रयुक्तमपरिस्फुटम् ।
यथा - हल्लो हलं हालः कंदोट्टं सम उप्पवम् ॥

अन्यत्र भी–प्राकृतशब्दप्रदीपिका–उपोद्घातश्लोक ।

सन्दर्भ सूची

प्राकृत साहित्य के ग्रंथ –

1. संस्कृतगाथासप्तशती व्यंग्यसर्वकषोपेता (1983) भट्टमथुरानाथशास्त्री (पुनः) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
2. वज्जालग्गं (1984) अनु० डॉ० विश्वनाथ पाठक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
3. गाथासप्तशती (1995) अनु० डॉ० विश्वनाथ पाठक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५
4. गाहारयणकोस (1975) जिनेश्वरसूरिकृत सं.अमृतलाल भोजक, नगीन जे० शाह, एल. डी. इन्स्टिट्यूट ओफ इन्डोलोजी, अहमदाबाद-9
5. शृङ्गारमंजरी सट्टकम् (1978) विश्वेश्वरविरचितम्, सं० अनु० बाबूलालशुक्ल शास्त्री, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

6. पाइअलच्छीनाममाला (1960) महाकवि धनपाल सं.बेचरदास जीवराज दोशी, शादीलाल जैन, बम्बई-3
7. विमलसूरिविरइयं पउमचरियं (1962) सं० हर्मन जैकोबी, प्राकृतग्रन्थ परिषद्, वाराणसी
8. कंसवहो (सं०2002) रामपाणिवादकृत सं० ए० एन० उपाध्ये, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.
9. गउडवहो (1994) अनु० मिथिलेश कुमारी मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
10. उसाणिरुद्धं (1996) रामपाणिवादविरइयं सं.वी०एम० कुलकर्णी , शारदाबेन चिमनभाई एजुकेशनल रिसर्च सेण्टर, अहमदाबाद
11. सेतुबन्धमहाकाव्यम् (2006) अनु० डो० हरिशंकर पाण्डेय, शारदा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
12. जैन, प्रेम सुमन (1982) प्राकृतकाव्यमंजरी, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर
13. बाहरी, हरदेव प्राकृत और उसका साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
14. जैन, जगदीशचन्द्र (1961) प्राकृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
15. सूरिदेव, श्रीरञ्जन (1984) प्राकृत-संस्कृत का समान्तर अध्ययन, भाषा साहित्य संस्थान, इलाहाबाद
16. (ed.) Kulkarni V.M. (1998), Prakrit Verses in Sanskrit Works on Poetics. Bhogilal Leherchand Institute of Indology, Delhi.

प्राकृत व्याकरण के ग्रन्थ

1. प्राकृतानन्द (1962) सं० मुनि जिनविजय, संचालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
2. शेषकृष्णविरचिता प्राकृतचन्द्रिका (1969) संशोधक-सुभद्र झा, सम्पादक-प्रभाकर झा.भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी
3. प्राकृतचिन्तामणि (1987) श्रीघासीलालजी महाराज, आचार्य श्रीघासीलाल जी महाराज साहित्य प्रकाशन समिति, इन्दौर
4. प्राकृतकौमुदी (1988) श्रीघासीलालजी महाराज, आचार्य श्रीघासीलाल जी महाराज साहित्य प्रकाशन समिति, इन्दौर
5. प्राकृतशब्दप्रदीपिका नृसिंहशास्त्रिकृता (1992) सं० डो० एम० गोपाल रेड्डी, वी० श्रीनिवास शर्मा, संस्कृत परिषद्, उस्मानिया विश्वविद्यालय-हैदराबाद
6. प्राकृतप्रकाशः संजीवनी-सुबोधिनी-मनोरमा-प्राकृतमञ्जरीतिटीकाचतुष्टयेन हिन्द्यनुवादेन च समन्वितः (1996) सं० आचार्य बलदेव उपाध्याय
7. हैमप्राकृतव्याकरणम् (1996) सं० आप्टे, के० वी०, चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी ।
8. पिशल् आर०, (अनु०) जोशी, हेमचन्द्र (1958). प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
9. जैन, उदयचन्द्र (1988) शौरसेनी प्राकृतव्याकरण. प्राकृत अध्ययन प्रसार केन्द्र, उदयपुर
10. Ananthanarayana, H.S. (1973) A Prakrit Reader. Central Institute of Indian languages. Mysore.

❋ ❋ ❋